जैन धर्म में सामाजिक चिन्तन

जैनधर्म निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा का धर्म है। सामान्यतया इसे सामाजिक न मानकर व्यक्तिवादी धर्म माना जाता है, किन्तु जैनधर्म को एकान्त रूप से व्यक्तिवादी धर्म नहीं कहा जा सकता। यह सत्य है कि उसका विकास निवृत्तिमार्गी संन्यास प्रधान श्रमण-परम्परा में ही हुआ है किन्तु मात्र इस आधार पर उसे असामाजिक या व्यक्तिवादी धर्म मानना, एक भ्रांति ही होगी। जीवन में दु:ख की यथार्थता और दु:खविमुक्ति का जीवनादर्श, यह जैन परम्परा का अथ और इति है। किन्तु दु:ख और दु:खविमुक्ति के ये सम्प्रत्यय मात्र वैयक्तिक नहीं है, उनका एक सामाजिक पक्ष भी है। दु:खविमुक्ति का उनका आदर्श मात्र वैयक्तिक दु:खों की विमुक्ति नहीं है अपितु सम्पूर्ण प्राणिजगत् के दु:खों की विमुक्ति है और यही उन्हें समाज से जोड़ देता है। श्रमणधारा में धर्म और नीति को अवियोज्य माना गया है और धर्म एवं नीति की यह अवियोज्यता भी उसमें सामाजिक सन्दर्भ को स्पष्ट कर देती है।

भारतीय चिन्तन में सामाजिक चेतना

सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय चिन्तन को तीन युगों में बाँटा जा सकता है। (१) वैदिक युग, (२) औपनिषदिक युग, (३) जैन और बौद्ध युग। सर्वप्रथम जहाँ वैदिक युग में 'संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसि जानताम्'[१] अर्थात् तुम मिलकर चलो, तुम मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ-साथ विचार करें- इस रूप में सामाजिक चेतना को विकसित करने का प्रयत्न किया गया, तो वहीं औपनिषदिक युग में उस सामाजिक एकत्व की चेतना के लिये दार्शनिक आधार प्रस्तुत किए गये। ईशावास्योपनिषद् में ऋषि कहता है कि जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है वह अपनी इस एकत्व की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता।[२] औपनिषदिक चिन्तन में सामाजिकता का आधार यही एकत्व की अनुभूति रही है। जब एकत्व की दृष्टि विकसित होती है तो घृणा और विद्वेष के तत्त्व स्वत: समाप्त हो जाते हैं क्योंकि 'पर' रहता ही नहीं, अत: किससे घृणा या विद्वेष किया जाये। घृणा, विद्वेष आदि परायेपन के भाव में ही सम्भव होते हैं, जब सभी स्व या आत्मीय हों तो घृणा या विद्वेष का अवसर ही कहाँ रह जाता है। इस प्रकार औपनिषदिक युग में सामाजिक चेतना को एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान किया गया है। साथ ही सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार का निरसन कर सामूहिक-सम्पदा का विचार प्रस्तुत किया गया है। ईशावास्योपनिषद् में सम्पूर्ण सम्पत्ति को ईश्वरीय सम्पदा मानकर उस पर से वैयक्तिक अधिकार को समाप्त कर दिया गया और व्यक्ति को यह कहा गया कि वह जागतिक सम्पदा पर दूसरों के अधिकारों को मान्य करके ही उस सम्पत्ति का उपभोग करे। इस प्रकार 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'[३] के रूप में उपभोग के सामाजिक अधिकार की चेतना को विकसित किया गया। इसी तथ्य की पुष्टि श्रीमद्भागवत में भी की गई है। उसमें अपनी दैहिक आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति पर अपना अधिकार मानने वाले को स्पष्टत: चोर कहा गया।[४] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक और औपनिषदिक युग में सामाजिकता के लिये न केवल प्रेरणा दी गई अपितु एक दार्शनिक आधार भी प्रस्तुत किया गया है।

जैनधर्म में सामाजिक चेतना

जहाँ तक जैन और बौद्ध परम्पराओं का प्रश्न है उनमें सामाजिक चेतना का आधार एकत्व की अनुभूति न होकर समत्व की अनुभूति रही है। यद्यपि आचारांग में कहा गया है कि जिसे तू दु:ख या पीड़ा देना चाहता है, वह तू ही है।[५] इसमें यह फलित होता है कि आचारांगसूत्र भी एकत्व की अनुभूति पर सामाजिक या अहिंसक चेतना को विकसित करता है, फिर भी जैन और बौद्ध परम्परा में सामाजिक चेतना एवं अहिंसा की अवधारणा के विकास का आधार सभी प्राणियों के प्रति समभाव या समता की भावना रही। उनमें दूसरों की जिजीविषा और सुख-दु:खानुभूति 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के आधार पर समझने का प्रयत्न किया गया और सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया। यद्यपि जैन और बौद्धधर्म निवृत्तिप्रधान रहे किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे समाज से विमुख थे। वस्तुत: भारत में यदि धर्म के क्षेत्र में संघीय साधना-पद्धति का विकास किसी परम्परा ने किया तो वह श्रमण-परम्परा ही थी। जैनधर्म के अनुसार तो तीर्थंकर अपने प्रथम प्रवचन में ही चतुर्विध संघ की स्थापना करता है। उसके धर्मचक्र का प्रवर्तन संघ-प्रवर्तन से ही प्रारम्भ होता है। यदि महावीर में लोकमंगल या लोककल्याण की भावना नहीं होती तो वे अपनी वैयक्तिक साधना की पूर्णता के पश्चात् धर्मचक्र का प्रवर्तन ही क्यों करते ? प्रश्नव्याकरणसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तीर्थङ्कर का यह सुकथित प्रवचन सभी प्राणियों की रक्षा और करुणा के लिए है।[६] पाँचों महाव्रत सब प्रकार से लोकहित के लिए हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और संग्रह (परिग्रह) ये सब वैयक्तिक नहीं, सामाजिक जीवन की ही दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। जैन साधना-परम्परा में पंचव्रतों या पंचशीलों के रूप में जिस धर्ममार्ग का उपदेश दिया गया, वह मात्र वैयक्तिक साधना के लिए नहीं अपितु सामाजिक जीवन के लिए था। क्योंकि हिंसा का अर्थ है किसी अन्य की हिंसा, असत्य का मतलब है किसी अन्य को गलत जानकारी देना, चोरी का अर्थ है किसी दूसरे की शक्ति का अपहरण करना, व्यभिचार का मतलब है सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध यौन सम्बन्ध स्थापित करना। इसी प्रकार संग्रह या परिग्रह का अर्थ है समाज में आर्थिक विषमता पैदा करना। क्या सामाजिक जीवन के अभाव में इनका कोई अर्थ रह जाता है ? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के जो जीवनमूल्य जैन-दर्शन ने प्रस्तुत किये वे पूर्णत: सामाजिक मूल्य

हैं और उनका उद्देश्य सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि है। लोक-मंगल और लोक-कल्याण यह श्रमण-परम्परा का और विशेष रूप से जैन-परम्परा का मूलभूत लक्ष्य रहा है। आचार्य समन्तभद्र ने महावीर के धर्मसंघ को सर्वोच्च तीर्थ कहा है, वे लिखते हैं कि "सर्वापदा:दामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव"[८], अर्थात् हे प्रभो ! आपका यह धर्मतीर्थ सभी प्राणियों के दु:खों का अन्त करने वाला और सभी का कल्याण करने वाला है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-परम्परा ने निवृत्तिमार्ग को प्रधानता देकर भी उसे संघीय साधना के रूप में लोक-कल्याण का आदर्श देकर सामाजिक बनाया है। जैन आगमों में कुलधर्म, ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म और गणधर्म के जो उल्लेख हैं, वे सामाजिक सापेक्षता को स्पष्ट कर देते हैं[९]। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में हमारे पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार सुमधुर और समायोजनपूर्ण बन सकें और सामाजिक टकराव के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें किस प्रकार से दूर किया जा सके, यही जैनदर्शन की सामाजिक दृष्टि का मूलभूत आधार है। जैनदर्शन ने आचारशुद्धि पर बल देकर व्यक्ति-सुधार के माध्यम से समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया है।

व्यक्ति और समाज : जैन दृष्टिकोण

सामाजिक दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों के सन्दर्भ में जैनों का दृष्टिकोण समन्वयवादी और उदार रहा है। आगे हम क्रमश: उन सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में जैन दृष्टिकोण पर विचार करेंगे।

समाजदर्शन की दृष्टि से व्यक्ति और समाज में किसे प्रमुख माना जाय, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। व्यक्तिवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि व्यक्ति ही प्रमुख है, समाज व्यक्ति के लिये बनाया गया है। व्यक्ति साध्य है, समाज साधन है, अत: समाज को वैयक्तिक हितों पर आघात करने या उन्हें सीमित करने का कोई अधिकार नहीं है। दूसरी ओर, समाजवादी दार्शनिक समाज को ही सर्वस्व मानते हैं। उनके अनुसार सामाजिक कल्याण ही प्रमुख है, समाज से पृथक् व्यक्ति की सत्ता कुछ है ही नहीं। वह जो कुछ भी है समाज द्वारा निर्मित है। अत: सामाजिक कल्याण के लिये वैयक्तिक हितों का बलिदान किया जा सकता है। इन दोनों प्रकार के ऐकान्तिक दृष्टिकोणों को जैनदर्शन अस्वीकार करता है। वह यह मानता है कि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर अपना अस्तित्व ही खो देते हैं। उसके अनुसार दार्शनिक दृष्टि से व्यक्तिरहित सामान्य (समाज) और सामान्यरहित व्यक्ति दोनों ही अयथार्थ हैं[१०]। वे सामान्य (universal) और विशेष (individual) न्याय-वैशेषिकों के समान स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानते हैं। मनुष्यत्व नामक सामान्य गुण से रहित कोई मनुष्य नहीं हो सकता और बिना मनुष्य (व्यक्ति) के मनुष्यत्व की कोई सत्ता नहीं होती। विशेष रूप से जब हम मनुष्य के सन्दर्भ में विचार करते हैं तो पाते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अत: सामाजिकता के बिना मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं है। मनुष्य को अपने जैविक अस्तित्व से लेकर भाषा, सभ्यता, संस्कृति और जीवन-मूल्य आदि जो कुछ मिले हैं, वे समाज से मिले हैं। यदि मनुष्य से उसके सामाजिक अवदानों को पृथक् कर दिया जाय तो उसका कुछ अस्तित्व ही नहीं रहेगा। दूसरी ओर, यह भी सही है कि बिना मनुष्य के मनुष्यत्व का कोई अर्थ नहीं है। मनुष्य से पृथक् मनुष्यत्व नहीं होता, ठीक यही बात समाज के सन्दर्भ में भी है। समाज का अस्तित्व व्यक्तियों पर निर्भर है। व्यक्तियों के अभाव में समाज सम्भव ही नहीं है। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि व्यक्ति जो कुछ है वह समाज के कारण है। इस प्रकार जैनदर्शन में न तो निरपेक्ष रूप से व्यक्ति को महत्त्व दिया गया है और न ही समाज को। जैनधर्म की अनेकान्तिक दृष्टि का निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति समाज-सापेक्ष है और समाज व्यक्ति-सापेक्ष। जो लोग व्यक्ति निरपेक्ष समाज अथवा समाज निरपेक्ष व्यक्ति की बात करते हैं वे दोनों ही यथार्थ से अपना मुख मोड़ लेते हैं। सामान्य रूप से तो सभी भारतीय दर्शन और विशेष रूप से जैन दर्शन यह मानता है कि व्यक्ति और समाज में से किसी एक को ही सब कुछ मान लेना एक भ्रान्त धारणा है। यह ठीक है कि सामाजिक कल्याण के लिये व्यक्ति के हितों का बलिदान किया जा सकता है। किन्तु दूसरी ओर यह भी सही है कि सामूहिक हित भी वैयक्तिक हित से भिन्न नहीं हैं। सबके हित में व्यक्ति का हित तो निहित ही है। व्यक्ति में समाज और समाज में व्यक्ति अनुस्यूत है। जैन परम्परा में संघ हित को सर्वोपरिता दी गई है। इस सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक कथा है कि भद्रबाहु ने अपनी वैयक्तिक ध्यान-साधना के लिये संघ के कुछ साधुओं को पूर्व-साहित्य का अध्ययन करवाने की माँग को ठुकरा दिया। इस पर संघ ने उनसे पूछा कि वैयक्तिक साधना और संघहित में क्या प्रधान है ? यदि आप संघहित की उपेक्षा करते हैं तो आपको संघ में रहने का अधिकार भी नहीं है। आपको बहिष्कृत किया जाता है। अन्त में भद्रबाहु को संघहित को प्राथमिकता देनी पड़ी[११]। यद्यपि समाज के हित के नाम पर आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों को समाप्त नहीं किया जा सकता। जैन-परम्परा में कहा गया है कि आत्महित करना चाहिये और यदि शक्य हो तो लोकहित भी करना चाहिये और जहाँ आत्महित और लोकहित में नैतिक विरोध का प्रश्न हो वहाँ आत्महित को ही चुनना पड़ेगा[१२]। यद्यपि हमें स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ आत्महित का तात्पर्य वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति नहीं अपितु आध्यात्मिक मूल्यों का संरक्षण है। वस्तुत: वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों ही मानवीय अस्तित्व के अनिवार्य अंग है। पाश्चात्य विचारक ब्रेडले ने कहा था - मनुष्य मनुष्य नहीं है यदि वह सामाजिक नहीं और यदि वह मात्र सामाजिक है तो पशु से अधिक नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों का अतिक्रमण करने में है[१३]। किन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि जैनदर्शन अपनी अनेकान्तिक दृष्टि के कारण मनुष्य को एक ही साथ वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही मानता है।

राग जोड़ता भी है और तोड़ता भी है

यह ठीक है कि जब मनुष्य में राग का तत्त्व विकसित होता है तो वह दूसरों से जुड़ता है। लेकिन स्मरण रखना चाहिये कि दूसरों

से जुड़ने का अर्थ है कहीं से कटना । क्योंकि जो किसी से जुड़ता है तो कहीं से कटता अवश्य है । राग का तत्त्व व्यक्ति के स्व की सीमा का विस्तार तो अवश्य करता है किन्तु उसे दूसरों से अलग भी कर देता है । जब हम वैयक्तिक स्वार्थों से युक्त होते हैं तो हमारा स्व संकुचित होता है और जब हम सामाजिकता से जुड़ते हैं तो हमारे स्व का क्षेत्र विकसित होता है । किन्तु जब तक हम अपने और पराये के भाव का अतिक्रमण नहीं कर पाते हैं तब तक हमारा 'स्व' या 'आत्मा' पूर्ण नहीं बन पाता है । जैनों के अनुसार हमारे जीवन में जो भी टूटन है, जो भी सीमाएँ हैं और जो भी मेरे-पराये के भाव हैं, ये सभी राग और द्वेष के तत्त्वों के कारण हैं । जब तक हम मेरा देश, मेरी जाति, मेरा धर्म आदि इन 'मैं' और 'मेरे' के घेरों से ऊपर नहीं उठते, दूसरे शब्दों में मेरे-तेरे के घेरों का अतिक्रमण जब तक नहीं कर जाते तब तक सही अर्थों में सामाजिक भी नहीं बन पाते हैं ।[१४] मेरे और पराये की मन:स्थिति में हम अपने आपको किन्हीं शृंखलाओं में जकड़ा हुआ ही पाते हैं । जैनधर्म की साधना वीतरागता की साधना है, वह अनिवार्य रूप से स्व की संकुचित सीमा को तोड़ना है और अपने और पराये की इस संकुचित सीमा का अतिक्रमण करना असामाजिक होना नहीं है । जैनधर्म मुख्यतया इस बात पर बल देता है कि हम एक स्वस्थ सामाजिकता का विकास करें और यह स्वस्थ सामाजिकता राग के आधार पर नहीं वरन् राग का अतिक्रमण करके ही की जा सकती है ।

सामाजिकता का आधार : रागात्मकता या विवेक ?

सम्भवत: यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि जैनदर्शन राग को समाप्त करने की बात करता है किन्तु राग के अभाव में सामाजिक जीवन से जोड़ने वाला तत्त्व क्या होगा ? यदि अपनेपन और मेरेपन का भाव न हो तो सारे सामाजिक बन्धन चरमरा कर टूट जायेंगे । यह रागात्मकता ही है जो हमें एक-दूसरे से जोड़ती है और समाज का निर्माण करती है । किन्तु क्या वस्तुत: रागात्मकता हमारे सामाजिक सम्बन्धों का यथार्थ कारण हो सकती है, जैसा कि पूर्व में कहा गया है- राग यदि हमें कहीं जोड़ता है तो वह हमें कहीं से तोड़ता भी है, मेरी विनम्र मान्यता है कि यदि हम राग के आधार पर समाज को खड़ा करेंगे तो वह एक स्वार्थी व्यक्तियों का समाज ही होगा । वस्तुत: समाज की संरचना राग के आधार पर नहीं विवेक के आधार पर ही सम्भव है । यदि मैं दूसरों का मंगल या हितसाधन इसलिये करता हूँ कि वे मेरे अपने हैं, और ऐसा करने से मेरे अपनेपन का घेरा कितना ही बड़ा क्यों न हो, मुझे एक स्वार्थी व्यक्ति से अधिक कुछ भी नहीं रहने देगा । हमें दूसरों का हित-साधन केवल इसलिये नहीं करना है कि वे हमारे अपने हैं अपितु इसलिये करना है कि दूसरों का हित-साधन करना मेरा स्वभाव है, स्वधर्म है, कर्त्तव्य है । जैन दार्शनिकों के अनुसार समाज जिस आधार पर खड़ा होता है वह राग नहीं, विवेक का तत्त्व है, कर्त्तव्यता का बोध है । तत्त्वार्थसूत्र में यह माना गया है कि जीवद्रव्य का स्वभाव परस्पर एक-दूसरे का उपकारक होना है[१५] । व्यक्ति के जीवन की सार्थकता स्वहितों/स्वार्थों का बलिदान करके दूसरों का मंगल करने में ही है । पारस्परिक हित-साधन ही जीव का स्वभाव है और इसी से उसकी कर्त्तव्यता है । इसी के आधार पर हमारा मानव-समाज खड़ा हुआ है । रागात्मकता हमें किसी से जोड़ती है तो कहीं से तोड़ती भी है, क्योंकि राग सदैव द्वेष के साथ-साथ जीता है । राग और द्वेष ऐसे जुड़वाँ शिशु हैं जो एक-दूसरे के साथ जीते और मरते हैं । राग के अभाव में द्वेष और द्वेष के अभाव में राग नहीं जी पाता है । अत: राग के आधार पर जो समाज खड़ा होगा उसमें अनिवार्य रूप से वर्गभेद और वर्णभेद होगा ही, किन्तु कर्त्तव्यबोध के आधार पर जो समाज खड़ा होगा वह वर्णभेद और वर्गभेद से ऊपर होगा ।

वस्तुत: मानवीय विवेक के आधार पर ही कर्त्तव्यबोध की जो चेतना जागृत होती है, वही हमारी सामाजिकता का आधार है । राग की भाषा अधिकार की भाषा है, जबकि विवेक की भाषा दायित्वबोध या कर्त्तव्य की भाषा है । जिस समाज में केवल अधिकारों की बात होती है वहाँ केवल विकृत सामाजिकता ही फलित होती है । स्वस्थ सामाजिकता का आधार अधिकार नहीं, कर्त्तव्यबोध है । जैनधर्म जिस सामाजिक चेतना की बात करता है वह मानवीय विवेक का अनिवार्य परिणाम है । विवेक से कर्त्तव्यता और सम-बुद्धि/समता जागृत होती है जब विवेक हमारी सामाजिक चेतना का आधार बनता है, तब मेरे और तेरे की चेतना ही समाप्त हो जाती है । सम-बुद्धि से सभी आत्मवत् हैं, ऐसी दृष्टि विकसित होती है । यही आत्मवत् दृष्टि हमारी सामाजिकता का आधार है । जब तक आत्मतुल्यता का बोध नहीं आता है, तब तक न तो हिंसा, घृणा आदि की असामाजिक वृत्तियों से ऊपर उठा जा सकता है और न हम सही अर्थ में सामाजिक ही बन पाते हैं । जैनदर्शन में सामाजिकता का आधार यही आत्मतुल्यता का बोध है ।

सामाजिक जीवन का बाधक तत्त्व : अहंकार

सामाजिक सम्बन्धों में व्यक्ति का अहंकार भी महत्त्वपूर्ण कार्य करता है । अहंकार के कारण शासन की इच्छा अथवा आधिपत्य की भावना जागृत होती है और सामाजिक जीवन में विषमता पैदा होती है । शासक-शासित का भेद अहंकार के कारण ही खड़ा होता है । वर्तमान युग में बड़े राष्ट्रों में जो अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने की प्रवृत्ति है, उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहं की पुष्टि ही है । जब व्यक्ति में आधिपत्य की प्रवृत्ति दृढ़ होती है तो वह दूसरों के अधिकारों का हनन करता है, परिणामत: दूसरों की स्वतन्त्रता खण्डित होती है । न केवल शासित और शासक का भेद अपितु जातिभेद और वर्गभेद के पीछे भी यही अहंकार का तत्त्व काम करता है । जब हम अपने कुल या जाति के अहंकार से युक्त होते हैं तो दूसरों को हीन समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है जिसका परिणाम जाति-संघर्ष या वर्ग-संघर्ष होता है ।

जातिवाद का विरोध और सामाजिक समता

जैनधर्म अहंकार के उपशमन के साथ-साथ जातिवाद और

वर्णवाद का स्पष्टरूप से विरोध करता है । वह कहता है कि किसी जाति में जन्म लेने मात्र से नहीं, अपितु व्यक्ति का सदाचार और उसकी नैतिकता ही उसको श्रेष्ठ बनाती है इस प्रकार जैनधर्म जातिगत श्रेष्ठता के सम्प्रत्यय का विरोध करता है । वह स्पष्ट रूप से कहता है कि कोई व्यक्ति इस आधार पर ब्राह्मण नहीं होता कि वह किसी ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ है, अपितु वह ब्राह्मण इस आधार पर होता है कि उसका आचार और व्यवहार श्रेष्ठ है[१६] । जैनदर्शन जातिगत श्रेष्ठता के स्थान पर आचारगत श्रेष्ठता को ही महत्त्व देता है । आचारांग में स्पष्ट कहा गया है कि न तो कोई हीन है और न कोई श्रेष्ठ[१७] । आज हम देखते हैं कि जातिगत आधारों पर अनेक सामाजिक संगठन बनते हैं लेकिन ऐसे सामाजिक संगठनों को जैनधर्म कोई मान्यता नहीं देता है । आज भी जैनसंघ में अनेक जातियों के लोग समान रूप से अपनी साधना करते हैं । मथुरा आदि के प्राचीन अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि अनेक जिन-मन्दिर और मूर्तियाँ गंधी, तेली, स्वर्णकार, लोहाकार, मल्लाह, नर्तक और गणिकाओं द्वारा निर्मित हैं । वे सभी जातियाँ और वर्ग जो हिन्दू-धर्म में वर्णव्यवस्था की कठोर रूढ़िवादिता के कारण निम्न मानी गई थीं, जैनधर्म में समादृत थे[१८] । हरिकेशीबल (चाण्डाल), मातंग, अर्जुन (मालाकार) आदि अनेक निम्न जातियों में उत्पन्न हुए महान साधकों की जीवन गाथाओं के उल्लेख जैनागमों में मिलते हैं जो इस तथ्य के सूचक हैं कि जैनधर्म में जातिवाद या ऊँच-नीच के भेद-भाव मान्य नहीं थे[१९] । इस प्रकार जैनधर्म समाज में वर्गभेद और वर्णभेद का विरोधी था। उसका उद्घोष था कि सम्पूर्ण मानव-जाति एक है[२०] ।

सामाजिक जीवन की पवित्रता का आधार : विवाह संस्था

सामाजिक जीवन का प्रारम्भ परिवार से ही होता है और परिवार का निर्माण विवाह के बन्धन से होता है । अत: विवाह-संस्था सामाजिक दर्शन की एक प्रमुख समस्या है । विवाह-संस्था के उद्भव के पूर्व यदि कोई समाज रहा होगा तो वह भयभीत प्राणियों का एक समूह रहा होगा जो पारस्परिक सुरक्षा हेतु एक-दूसरे से मिलकर रहते होंगे । विवाह का आधार केवल काम-वासना की सन्तुष्टि ही नहीं है, अपितु पारस्परिक आकर्षण और प्रेम भी है । यह स्पष्ट है कि निवृत्तिप्रधान संन्यासमार्गी जैन परम्परा में इस विवाह संस्था के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण नहीं मिलते हैं । जैनधर्म अपनी वैराग्यवादी परम्परा के कारण प्रथमत: तो यही मानता रहा कि उसका प्रथम कर्त्तव्य व्यक्ति को संन्यास की दिशा में प्रेरित करना है, इसलिये प्राचीन जैन आगमों में जैनधर्मानुकूल विवाह-पद्धति के कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होते । प्राचीनकाल में बृहद् भारतीय समाज या हिन्दू समाज से पृथक् जैनों की अपनी कोई विवाह-पद्धति रही होगी यह कहना भी कठिन है । यद्यपि यह सत्य है कि जैन धर्मानुयायियों में प्राचीनकाल से ही विवाह होते रहे हैं । जैन पुराण साहित्य में यह उल्लेख मिलता है कि ऋषभदेव से पूर्व यौगलिक काल में भाई-बहन ही युवावस्था में पति-पत्नी के रूप में व्यवहार करने लगते थे और एक युगल में पुरुष की अकाल मृत्यु हो जाने पर ऋषभ ने सर्वप्रथम विवाह-पद्धति का प्रारम्भ किया था[२१] । पुन: भरत और बाहुबली की बहनों-ब्राह्मी और सुन्दरी द्वारा भी आजीवन ब्रह्मचारी रहने और अपने भाइयों से विवाह न करने का निर्णय लिये जाने पर समाज में विवाह-व्यवस्था को प्रधानता मिली, किन्तु विवाह को धार्मिक जीवन का अंग न मानने के कारण जैनों ने प्राचीन काल में किसी विवाह-पद्धति का विकास नहीं किया । इस सम्बन्ध में जो भी सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं उस आधार पर यही कहा जा सकता है कि विवाह के सम्बन्ध में जैनसमाज बृहद् हिन्दू-समाज के ही विधि-विधानों का अनुगमन करता रहा और आज भी करता है ।

प्राचीन जैन ग्रन्थों में विवाह कैसे किया जाय, इसका उल्लेख तो नहीं मिलता है, किन्तु विवाह संस्था को यौन सम्बन्धों के संयमन का एक साधन मानकर उसमें गृहस्थ उपासकों के लिए स्वपत्नी-सन्तोषव्रत का विधान अवश्य मिलता है । आदिपुराण में विवाह एवं पति-पत्नी के पारस्परिक एवं सामाजिक दायित्वों की चर्चा है, उसमें विवाह के दो उद्देश्य बताए गए हैं - (१) कामवासना की तृप्ति (२) सन्तानोत्पत्ति । जैनाचार्यों ने विवाह संस्था को यौन-सम्बन्धों के नियन्त्रण एवं वैधीकरण के लिए आवश्यक माना था । गृहस्थ का स्वपत्नीसन्तोषव्रत न केवल व्यक्ति की कामवासना को नियन्त्रित करता है, अपितु सामाजिक जीवन में यौन-व्यवहार को परिष्कृत भी बनाता है । अविवाहित स्त्री से यौन-सम्बन्ध स्थापित करने, वेश्यागमन करने आदि के निषेध इसी बात के सूचक हैं । जैनधर्म सामाजिक जीवन में यौन सम्बन्धों की शुद्धि को आवश्यक मानता है । विवाह के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए आदिपुराण में बताया गया है कि जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित व्यक्ति उसके उपशमनार्थ कटु-औषधि का सेवन करता है, उसी प्रकार काम-ज्वर से सन्तप्त हुआ प्राणी उसके उपशमनार्थ स्त्रीरूपी औषधि का सेवन करता है[२२] । इससे इतना प्रतिफलित होता है कि जैनधर्म अवैध या स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों का समर्थक नहीं रहा है । उसमें विवाह-सम्बन्धों की यदि कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका है तो वह यौन-सम्बन्धों के नियन्त्रण की दृष्टि से ही है और यह उसकी निवृत्तिमार्गी धारा के अनुकूल भी है । उसकी मान्यता के अनुसार यदि कोई आजीवन ब्रह्मचारी बनकर संयम-साधना में अपने को असमर्थ पाता है तो उसे विवाह सम्बन्ध के द्वारा अपनी यौनवासना को नियन्त्रित कर लेना चाहिये । इसीलिये श्रावक के पाँच अणुव्रतों में स्वपत्नीसन्तोषव्रत नामक व्रत रखा गया है । पुन: श्रावक जीवन के मूलभूत गुणों की दृष्टि से वेश्यागमन और परस्त्री-गमन को निषिद्ध ठहराया गया । इस प्रकार चाहे विधिमुख से न हो किन्तु निषेधमुख से जैनधर्म विवाह-संस्था की उपयोगिता और महत्ता को स्वीकार करता हुआ प्रतीत होता है ।

चाहे धार्मिक विधि-विधान के रूप में जैनों में विवाह सम्बन्धी उल्लेख न मिलता हो, किन्तु जैन कथा-साहित्य में जो विवरण उपलब्ध होते हैं, उनके आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि जैन-परम्परा में समान वय और समान कुल के मध्य विवाह सम्बन्ध स्थापित करने के उल्लेख मिलते हैं[२३] । आगमों में यह भी उल्लेख मिलता है कि

बालभाव से मुक्त होने पर ही विवाह किये जाते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म में बाल-विवाह की अनुमति नहीं थी। मात्र यही नहीं, कुछ कथानकों में बाल-विवाह के अथवा अवयस्क कन्याओं के विवाह के दूषित परिणामों के उल्लेख भी मिल जाते हैं। विवाह सम्बन्ध को हिन्दूधर्म की तरह ही जैनधर्म में भी एक आजीवन सम्बन्ध ही माना गया था। अत: विवाह-विच्छेद को जैनधर्म में भी कोई स्थान नहीं मिला। वैवाहिक जीवन दूभर होने पर उस स्त्री का भिक्षुणी बन जाना ही एकमात्र विकल्प था। जैन आचार्यों ने अल्पकालीन विवाह-सम्बन्ध और अल्पवयस्क विवाह को घृणित माना है और इसे श्रावक-जीवन का एक दोष निरूपित किया है[२४]। जहाँ तक बहुपति-प्रथा का प्रश्न है, हमें द्रौपदी के एक आपवादिक कथानक के अतिरिक्त इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु बहुपत्नी-प्रथा जो प्राचीनकाल में एक सामान्य परम्परा बन गई थी, उसका उल्लेख जैन ग्रन्थों में भी मिलता है। इस बहुपत्नी-प्रथा को जैन-परम्परा का धार्मिक अनुमोदन हो ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में ऐसा कोई विधायक निर्देश प्राप्त नहीं होता जिससे बहुपत्नी-प्रथा का समर्थन किया गया हो। जैन-साहित्य मात्र इतना ही बतलाता है कि बहुपत्नी-प्रथा उस समय सामान्यरूप से प्रचलित थी और जैन परिवारों में भी अनेक पत्नियाँ रखने का प्रचलन था, किन्तु जैन-साहित्य में हमें कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि किसी श्रावक ने जैनधर्म के पंच-अणुव्रतों को ग्रहण करने के पश्चात् अपना दूसरा विवाह किया हो। गृहस्थ उपासक के स्वपत्नीसन्तोषव्रत के जिन अतिचारों का उल्लेख मिलता है उनमें एक परविवाहकरण भी है[२५]। यद्यपि इसका अर्थ जैन आचार्यों ने अनेक दृष्टि से किया है किन्तु इसका सामान्य अर्थ दूसरा विवाह करना ही है। इससे ऐसा लगता है कि जैन आचार्यों का अनुमोदन तो एकपत्नीव्रत की ओर ही था। आगे चलकर इसका अर्थ यह भी किया जाने लगा कि स्व-सन्तान के अतिरिक्त अन्य की सन्तानों का विवाह करवाना किन्तु मेरी दृष्टि में यह एक परवर्ती अर्थ है।

इसी प्रकार वेश्यागमन को भी निषिद्ध माना गया। अपरिगृहीता अर्थात् अविवाहिता स्त्री से यौन-सम्बन्ध बनाना भी श्रावकव्रत का एक अतिचार (दोष) माना गया[२६]। जैनाचार्यों में सोमदेव ही एकमात्र अपवाद हैं जो गृहस्थ के वेश्यागमन को अनैतिक घोषित नहीं करते। शेष सभी जैनाचार्यों ने वेश्यागमन का एक स्वर से निषेध किया है।

जहाँ तक प्रेम-विवाह और माता-पिता द्वारा आयोजित विवाह सम्बन्धों का प्रश्न है, जैनागमों में ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नहीं है कि वह किस प्रकार के विवाह-सम्बन्धों को करने योग्य मानते हैं। किन्तु ज्ञाताधर्मकथा के द्रौपदी एवं मल्लि अध्ययन में पिता पुत्री से स्पष्ट रूप से यह'कहता है कि मेरे द्वारा किया गया चुनाव तेरे कष्ट का कारण हो सकता है, इसलिये तुम स्वयं ही अपने पति का चुनाव करो[२७]। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि जैन-परम्परा में माता-पिता द्वारा आयोजित विवाहों और युवक-युवतियों द्वारा अपनी इच्छा से चुने गये विवाह सम्बन्धों को मान्यता प्राप्त थी।

जैन परिवार के युवक-युवतियों का जैन परिवार में ही विवाह हो, यह आवश्यक नहीं था। अनेक जैन कथाओं में अन्य धर्मावलम्बी कन्याओं से विवाह करने के उल्लेख मिलते हैं और यह व्यवस्था आज भी प्रचलित है। आज भी जैन परिवार अपनी समान जाति के हिन्दू परिवार की कन्या के साथ विवाह सम्बन्ध करते हैं। इसी प्रकार अपनी कन्या को हिन्दू परिवारों में प्रदान भी करते हैं। सामान्यतया विवाहित होने पर पत्नी-पति के धर्म का अनुगमन करती है किन्तु प्राचीन काल से आज तक ऐसे भी सैकड़ों उदाहरण जैन साहित्य में और सामाजिक जीवन में मिलते हैं जहाँ पति पत्नी के धर्म का अनुगमन करने लगता है या फिर दोनों अपने-अपने धर्म का परिपालन करते हैं और सन्तान को उनमें से किसी के भी धर्म को चुनने की स्वतन्त्रता होती है। फिर भी इस विसंवाद से बचने के लिये सामान्य व्यवहार में इस बात को प्राथमिकता दी जाती है कि जैन परिवार के युवक-युवतियाँ जैन परिवार में ही विवाह करें।

पारिवारिक दायित्व और जैन दृष्टिकोण

गृहस्थ का सामाजिक दायित्व अपने वृद्ध माता-पिता, पत्नी; पुत्र-पुत्री आदि परिजनों की सेवा एवं परिचर्या करना है। श्वेताम्बर साहित्य में उल्लेख है कि महावीर ने माता का अपने प्रति अत्यधिक स्नेह देखकर यह निर्णय ले लिया था कि जब तक उनके माता-पिता जीवित रहेंगे, वे संन्यास नहीं लेंगे। यह माता-पिता के प्रति उनकी भक्ति-भावना का ही सूचक है। यद्यपि इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा का दृष्टिकोण भिन्न है । जैनधर्म में संन्यास लेने के पहले पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्ति पाना आवश्यक माना गया है। मुझे जैन आगमों में एक भी उल्लेख ऐसा देखने को नहीं मिला जहाँ बिना परिजनों की अनुमति से किसी व्यक्ति ने संन्यास ग्रहण किया हो। जैनधर्म में आज भी यह परम्परा अक्षुण्ण रूप से कायम है। कोई भी व्यक्ति बिना परिजनों एवं समाज (संघ) की अनुमति के संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता। माता, पिता, पुत्र, पुत्री, पति या पत्नी की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। इसके पीछे मूल भावना यही है कि व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्वों से निवृत्ति पाकर ही संन्यास ग्रहण करें। इस बात की पुष्टि अन्तकृद्दशा के निम्न उदाहरण से होती है - जब श्रीकृष्ण को यह ज्ञात हो गया कि द्वारिका का शीघ्र ही विनाश होने वाला है, तो उन्होंने स्पष्ट घोषणा करवा दी कि यदि कोई व्यक्ति संन्यास लेना चाहता हो किन्तु इस कारण से नहीं ले पा रहा हो कि उसके माता-पिता, पुत्र-पुत्री एवं पत्नी का पालन-पोषण कौन करेगा, तो उनके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व मैं वहन कर लूँगा।[२८] यद्यपि बुद्ध ने प्रारम्भ में संन्यास के लिये परिजनों की अनुमति को आवश्यक नहीं माना था। अत: अनेक युवकों ने परिजनों की अनुमति के बिना ही संघ में प्रवेश ले लिया था किन्तु आगे चलकर उन्होंने भी यह नियम बना दिया था कि बिना परिजनों की अनुमति के उपसम्पदा प्रदान नहीं की जाये। मात्र यही नहीं उन्होंने यह भी घोषित कर दिया कि ऋणी, राजकीय सेवक

या सैनिक को भी जो सामाजिक उत्तरदायित्वों से भाग कर भिक्षु बनना चाहते हैं, बिना पूर्व अनुमति के उपसम्पदा प्रदान नहीं की जावे। हिन्दूधर्म भी पितृ-ऋण अर्थात् सामाजिक दायित्व को चुकाये बिना संन्यास की अनुमति नहीं देता है। चाहे संन्यास लेने का प्रश्न हो या गृहस्थ जीवन में ही आत्मसाधना की बात हो, सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करना आवश्यक माना गया है।

सामाजिक धर्म

जैन आचार दर्शन में न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म की विवेचना की गयी है, वरन् धर्म के सामाजिक पहलू पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जैन विचारकों ने संघ या सामाजिक जीवन की प्रमुखता सदैव स्वीकार की है। स्थानांगसूत्र में सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में दस धर्मों का विवेचन उपलबध है - (१) ग्रामधर्म, (२) नगरधर्म, (३) राष्ट्रधर्म, (४) पाखण्डधर्म, (५) कुलधर्म, (६) गणधर्म, (७) संघधर्म, (८) सिद्धान्तधर्म (श्रुतधर्म), (९) चारित्रधर्म और (१०) अस्तिकायधर्म [२९]। इनमें से प्रथम सात तो पूरी तरह से सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं।

१. ग्रामधर्म - ग्राम के विकास, व्यवस्था तथा शान्ति के लिये जिन नियमों को ग्रामवासियों ने मिलकर बनाया है, उनका पालन करना ग्रामधर्म है। ग्रामधर्म का अर्थ है जिस ग्राम में हम निवास करते हैं, उस ग्राम की व्यवस्थाओं, मर्यादाओं एवं नियमों के अनुरूप कार्य करना। ग्राम का अर्थ व्यक्तियों के कुलों का समूह है। अत: सामूहिक रूप में एक-दूसरे के सहयोग के आधार पर ग्राम का विकास करना, ग्राम के अन्दर पूरी तरह व्यवस्था और शान्ति बनाये रखना और आपस में वैमनस्य और क्लेश उत्पन्न न हो, उसके लिये प्रयत्नशील रहना ही ग्रामधर्म के प्रमुख तत्त्व है। ग्राम में शान्ति एवं व्यवस्था नहीं है, तो वहाँ के लोगों के जीवन में भी शान्ति नहीं रहती। जिस परिवेश में हम जीते हैं, उसमें शान्ति और व्यवस्था के लिये आवश्यक रूप से प्रयत्न करना हमारा कर्त्तव्य है। प्रत्येक ग्रामवासी सदैव इस बात के लिये जागृत रहें कि उसके किसी आचरण से ग्राम के हितों को चोट न पहुँचे। ग्रामस्थविर ग्राम का मुखिया या नेता होता है। ग्रामस्थविर का प्रयत्न रहता है कि ग्राम की व्यवस्था, शान्ति एवं विकास के लिये ग्रामजनों में पारस्परिक स्नेह और सहयोग बना रहे।

२- नगरधर्म - ग्रामों के मध्य में स्थित एक केन्द्रीय ग्राम का जो उनका व्यावसायिक केन्द्र होता है, नगर कहा जाता है। सामान्यत: ग्रामधर्म और नगरधर्म में विशेष अन्तर नहीं है। नगरधर्म के अन्तर्गत नगर की व्यवस्था एवं शान्ति, नागरिक-नियमों का पालन एवं नागरिकों के पारस्परिक हितों का संरक्षण-संवर्धन आता है। लेकिन नागरिकों का उत्तरदायित्व केवल नगर के हितों तक ही सीमित नहीं है। युगीन सन्दर्भ में नगरधर्म यह भी है कि नागरिकों के द्वारा ग्रामवासियों का शोषण न हो। नगरजनों का उत्तरदायित्व ग्रामीणजनों की अपेक्षा अधिक है। उन्हें न केवल अपने नगर के विकास एवं व्यवस्था का ध्यान रखना चाहिये वरन् उन समग्र ग्रामवासियों के हित की भी चिन्ता करनी चाहिये, जिनके आधार पर नगर की व्यावसायिक तथा आर्थिक स्थितियाँ निर्भर हैं। नगर में एक योग्य नागरिक के रूप में जीना, नागरिक कर्त्तव्यों एवं नियमों का पूरी तरह पालन करना ही मनुष्य का नगरधर्म है।

जैन-सूत्रों में नगर की व्यवस्था आदि के लिये नगरस्थविर की योजना का उल्लेख है। आधुनिक युग में जो स्थान एवं कार्य नगरपालिका अथवा नगरनिगम के अध्यक्ष के हैं, जैन परम्परा में वही स्थान एवं कार्य नगरस्थविर के हैं।

३. राष्ट्रधर्म - जैन विचारणा के अनुसार प्रत्येक ग्राम एवं नगर किसी राष्ट्र का अंग होता है और प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना होती है जो ग्रामीणों एवं नागरिकों को एक राष्ट्र के सदस्यों के रूप में आपस में बाँधकर रखती है। राष्ट्रधर्म का तात्पर्य है राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना अथवा जीवन की विशिष्ट प्रणाली को सजीव बनाये रखना। राष्ट्रीय विधि-विधान, नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना ही राष्ट्रधर्म है। आधुनिक सन्दर्भ में राष्ट्रधर्म का तात्पर्य है राष्ट्रीय एकता एवं निष्ठा को बनाये रखना तथा राष्ट्र के नागरिकों के हितों का परस्पर घात न करते हुए, राष्ट्र के विकास में प्रयत्नशील रहना, राष्ट्रीय शासन के नियमों के विरुद्ध कार्य न करना, राष्ट्रीय विधि-विधानों का आदर करते हुए उनका समुचित रूप से पालन करना। उपासकदशांगसूत्र में राज्य के नियमों के विपरीत आचरण करना दोषपूर्ण माना गया है। जैनागमों में राष्ट्रस्थविर का विवेचन भी उपलब्ध है। प्रजातन्त्र में जो स्थान राष्ट्रपति का है वही प्राचीन भारतीय परम्परा में राष्ट्रस्थविर का रहा होगा, यह माना जा सकता है।

४. पाखण्डधर्म - जैन आचार्यों ने पाखण्ड की अपनी व्याख्या की है। जिसके द्वारा पाप का खण्डन होता हो वह पाखण्ड है[३०]। दशवैकालिकनिर्युक्ति के अनुसार पाखण्ड एक व्रत का नाम है। जिसका व्रत निर्मल हो, वह पाखण्डी[३१]। सामान्य नैतिक नियमों का पालन करना ही पाखण्डधर्म है। सम्प्रति पाखण्ड का अर्थ ढोंग हो गया है, वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। पाखण्डधर्म का तात्पर्य अनुशासित, नियमित एवं संयमित जीवन है। पाखण्डधर्म के लिये व्यवस्थापक के रूप में प्रशास्ता-स्थविर का निर्देश है। प्रशास्ता-स्थविर शब्द की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट लगता है कि वह जनता को धर्मोपदेश के माध्यम से नियन्त्रित करने वाल अधिकारी है। प्रशास्ता-स्थविर का कार्य लोगों को धार्मिक निष्ठा, संयम एवं व्रत-पालन के लिये प्रेरित करते रहना है। हमारे विचार में प्रशास्ता-स्थविर राजकीय धर्माधिकारी के समान होता होगा जिसका कार्य जनता को सामान्य नैतिक जीवन की शिक्षा देना होता होगा।

५. कुलधर्म - परिवार अथवा वंश-परम्परा के आचार-नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना कुलधर्म है । परिवार का अनुभवी, वृद्ध एवं योग्य व्यक्ति कुलस्थविर होता है । परिवार के सदस्य कुलस्थविर की आज्ञाओं का पालन करते हैं और कुलस्थविर का कर्त्तव्य है परिवार का संवर्धन एवं विकास करना तथा उसे गलत प्रवृत्तियों से बचाना । जैन परम्परा में गृहस्थ एवं मुनि दोनों के लिये कुलधर्म का पालन आवश्यक है, यद्यपि मुनि का कुल उसके पिता के आधार पर नहीं वरन् गुरु के आधार पर बनता है ।

६. गणधर्म - गण का अर्थ समान आचार एवं विचार के व्यक्तियों का समूह है । महावीर के समय में हमें गणराज्यों का उल्लेख मिलता है । गणराज्य एक प्रकार के प्रजासत्तात्मक राज्य होते हैं । गणधर्म का तात्पर्य है गण के नियमों और मर्यादाओं का पालन करना। गण दो माने गये हैं - १. लौकिक (सामाजिक) और २. लोकोत्तर (धार्मिक) । जैन परम्परा में वर्तमान युग में भी साधुओं के गण होते हैं जिन्हें 'गच्छ' कहा जाता है । प्रत्येक गण (गच्छ) के आचार-नियमों में थोड़ा-बहुत अन्तर भी रहता है । गण के नियमों के अनुसार आचरण करना गणधर्म है । परस्पर सहयोग तथा मैत्री रखना गण के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है । गण का एक गणस्थविर होता है । गण की देशकालगत परिस्थितियों के आधार पर व्यवस्थाएँ देना, नियमों को बनाना और पालन करवाना गणस्थविर का कार्य है । जैन विचारणा के अनुसार बार-बार गण को बदलने वाला साधक हीन दृष्टि से देखा गया है । बुद्ध ने भी गण की उन्नति के लिए नियमों का प्रतिपादन किया है ।

७. संघधर्म - विभिन्न गणों से मिलकर संघ बनता है । जैन आचार्यों ने संघधर्म की व्याख्या संघ या सभा के नियमों के परिपालन के रूप में की है । संघ एक प्रकार की राष्ट्रीय संस्था है जिसमें विभिन्न कुल या गण मिलकर सामूहिक विकास एवं व्यवस्था का निश्चय करते हैं । संघ के नियमों का पालन करना संघ के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है ।

जैन-परम्परा में संघ के दो रूप हैं - १. लौकिक संघ और २. लोकोत्तर संघ । लौकिक संघ का कार्य जीवन के भौतिक पक्ष की व्यवस्थाओं को देखना है जबकि लोकोत्तर संघ का कार्य आध्यात्मिक विकास करना है । लौकिक संघ हो या लोकोत्तर संघ हो, संघ के प्रत्येक सदस्य का यह अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है कि वह संघ के नियमों का पूरी तरह पालन करे । संघ में किसी भी प्रकार के मनमुटाव अथवा संघर्ष के लिये कोई भी कार्य नहीं करे । एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये सदैव ही प्रयत्नशील रहे । जैन परम्परा के अनुसार साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चारों से मिलकर संघ का निर्माण होता है । नन्दीसूत्र में संघ के महत्त्व का विस्तारपूर्वक सुन्दर विवेचन हुआ है जिससे स्पष्ट है कि जैन-परम्परा में नैतिक साधना में संघीय जीवन का कितना अधिक महत्त्व है ।[३२]

८. श्रुतधर्म - सामाजिक दृष्टि से श्रुतधर्म का तात्पर्य है शिक्षण-व्यवस्था सम्बन्धी नियमों का पालन करना । शिष्य का गुरु के प्रति, गुरु का शिष्य के प्रति कैसा व्यवहार हो, यह श्रुतधर्म का ही विषय है । सामाजिक सन्दर्भ में श्रुतधर्म से तात्पर्य शिक्षण की सामाजिक या संघीय व्यवस्था है । गुरु और शिष्य के कर्त्तव्यों तथा पारस्परिक सम्बन्धों का बोध और उनका पालन श्रुतधर्म या ज्ञानार्जन का अनिवार्य अंग है । योग्य शिष्य को ज्ञान देना गुरु का कर्त्तव्य है जबकि शिष्य का कर्त्तव्य गुरु की आज्ञाओं का श्रद्धापूर्वक पालन करना है ।

९. चारित्रधर्म - चारित्रधर्म का तात्पर्य है श्रमण एवं गृहस्थ धर्म के आचारनियमों का परिपालन करना । यद्यपि चारित्रधर्म का बहुत कुछ सम्बन्ध वैयक्तिक साधना से है, तथापि उनका सामाजिक पहलू भी है । जैन आचार के नियमों एवं उपनियमों के पीछे सामाजिक दृष्टि भी है । अहिंसा सम्बन्धी सभी नियम और उपनियम सामाजिक शान्ति के संस्थापन के लिये हैं । अनाग्रह सामाजिक जीवन से वैचारिक विद्वेष एवं वैचारिक संघर्ष को समाप्त करता है । अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह पर आधारित जैन आचार के नियम-उपनियम प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में सामाजिक दृष्टि से युक्त हैं, यह माना जा सकता है ।

१०-अस्तिकायधर्म - अस्तिकायधर्म का बहुत कुछ सम्बन्ध तत्त्वमीमांसा से है, अत: उसका विवेचन यहाँ अप्रासंगिक है ।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने न केवल वैयक्तिक एवं आध्यात्मिक पक्षों के सम्बन्ध में विचार किया वरन् सामाजिक जीवन पर भी विचार किया है । जैन सूत्रों में उपलब्ध नगरधर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म आदि का यह वर्णन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन आचारदर्शन सामाजिक पक्ष का यथोचित मूल्यांकन करते हुए उसके विकास का भी प्रयास करता है ।

वस्तुत: जैनधर्म वैयक्तिक नैतिकता पर बल देकर सामाजिक सम्बन्धों को शुद्ध और मधुर बनाता है ।

सन्दर्भ

१. ऋग्वेद, १०/१९/१२.
२. ईशावास्योपनिषद्, ६.
३. वही, १.
४. श्रीमद्भागवत, ७/१४/८.
५. आचारांग, १/५/५.
६. प्रश्नव्याकरणसूत्र, २/१/२.
७. वही, २/१/३.
८. समन्तभद्र, युक्तयानुशासन, ६१.
९. स्थानांग, १०/७६०.
१०. देखें - सागरमल जैन, व्यक्ति और समाज, श्रमण, वर्ष ३४, (१९८३) अंक २.

११. देखें - प्रबन्धकोश, भद्रबाहु कथानक.

१२. उद्धृत - (क) रतनलाल दोशी, आत्मसाधना संग्रह, पृ० ४४१.
(ख) भगवतीआराधना, भाग १, पृ० १९७.

१३. Bradle, Ethical, Studies.

१४. मुनि नथमल, नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० ३-४.

१५. उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, ५/२१.

१६. उत्तराध्ययनसूत्र, २५/१९.

१७. आचारांग, १/२/३/७५.

१८. सागरमल जैन, सागर जैन-विद्या भारती, भाग १, पृ० १५३.

१९. जटासिंहनन्दि, वरांगचरित, सर्ग २५, श्लोक ३३-४३.

२०. आचारांगनिर्युक्ति, १९.

२१. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० १५२.

२२. जिनसेन, आदिपुराण, ११/१६६-१६७.

२३. अन्तकृतदशांग, ३/१/३.

२४. उपासकदशांग, १/४८.

२५. वही, १/४८.

२६. वही, १/४८.

२७. ज्ञाताधर्मकथा, ८ (मल्लिअध्ययन), १६ (द्रौपदी अध्ययन).

२८. अन्तकृद्दशांग, ५/१/२१.

२९. स्थानांग, १०/७६० । विशेष विवेचन के लिये देखें- धर्मव्याख्या, जवाहर लालजी म. और धर्म-दर्शन, शुक्लचन्द्रजी म.

३०. धर्मदर्शन, पृ० ८६.

३१. दशवैकालिकनिर्युक्ति, १५८.

३२. नन्दीसूत्र - पीठिका, ४-१७.

●

जैन धर्म और सामाजिक समता

(वर्ण एवं जाति व्यवस्था के विशेष सन्दर्भ में)

मानव समाज में स्त्री-पुरुष, सुन्दर-असुन्दर, बुद्धिमान्-मूर्ख, आर्य-अनार्य, कुलीन-अकुलीन, स्पर्श्य-अस्पर्श्य, धनी-निर्धन आदि के भेद प्राचीनकाल से ही पाये जाते हैं । इनमें कुछ भेद तो नैसर्गिक हैं और कुछ मानव सृजित । ये मानव सृजित भेद ही सामाजिक विषमता के कारण हैं । यह सत्य है कि सभी मनुष्य, सभी बातों में एक दूसरे से समान नहीं होते, उनमें रूप-सौन्दर्य, धन-सम्पदा, बौद्धिक-विकास, कार्य-क्षमता, व्यावसायिक-योग्यता आदि की दृष्टि से विषमता या तरतमता होती है । किन्तु इन विषमताओं या तरतमताओं के आधार पर अथवा मानव समाज के किसी व्यक्ति विशेष को वर्ग-विशेष में जन्म लेने के आधार पर निम्न, पतित, दलित या अस्पर्श्य मान लेना उचित नहीं है । यह सत्य है कि मनुष्यों में विविध दृष्टियों से विभिन्नता या तरतमता पायी जाती है और वह सदैव बनी भी रहेगी, किन्तु इसे मानव समाज में वर्ग-भेद या वर्ण-भेद का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक ही पिता के दो पुत्रों में ऐसी भिन्नता या तरतमता देखने में आती हैं । हम यह भी देखते हैं कि जो व्यक्ति गरीब होता है, वही कालक्रम में धनवान् या सम्पत्तिशाली हो जाता है । एक मूर्ख पिता का पुत्र भी बुद्धिमान् अथवा प्राज्ञ हो सकता है । एक पिता के दो पुत्रों में एक बुद्धिमान् तो दूसरा मूर्ख अथवा एक सुन्दर तो दूसरा कुरूप हो सकता है । अत: इस प्रकार की तरतमताओं के आधार पर मनुष्यों को सदैव के लिए मात्र जन्मना आधार पर विभिन्न वर्गों में बाँट कर नहीं रखा जा सकता है । चाहे वह धनोपार्जन हेतु चयनित विभिन्न व्यावसायिक क्षेत्र हों, चाहे कला, विद्या अथवा साधना के क्षेत्र हों, हम मानव समाज के किसी एक वर्ग विशेष को जन्मना आधार पर उसका ठेकेदार नहीं मान सकते हैं । यह सत्य है कि नैसर्गिक योग्यताओं एवं कार्यों के आधार पर मानव समाज में सदैव ही वर्गभेद या वर्णभेद बने रहेगें, फिर भी उनका आधार वर्ग या जाति विशेष में जन्म न होकर व्यक्ति की अपनी स्वाभाविक योग्यता के आधार पर अपनाये गये व्यवसाय या कार्य होंगे । व्यवसाय या कर्म के सभी क्षेत्र सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से खुले होने चाहिए और किसी भी वर्ग विशेष में जन्मे व्यक्ति को भी किसी भी क्षेत्र विशेष में प्रवेश पाने के अधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिये - यही सामाजिक समता का आधार है । यह सत्य है कि मानव समाज में सदैव ही कुछ शासक या अधिकारी और कुछ शासित या कर्मचारी होगें, किन्तु यह अधिकार भी मान्य नहीं हो सकता कि अधिकारी का अयोग्य पुत्र शासक और कर्मचारी या शासित का योग्य पुत्र शासित ही बना रहे । सामाजिक समता का तात्पर्य यह नहीं है कि मानव समाज में कोई भिन्नता या तरतमता ही नहीं हो । उसका तात्पर्य है मानव समाज के सभी सदस्यों को विकास के समान अवसर उपलब्ध हों तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता और योग्यता के आधार पर अपना कार्य क्षेत्र निर्धारित कर सके । इस सामाजिक समता के सन्दर्भ में जहाँ तक जैन आचार्यों के चिन्तन का प्रश्न है, उन्होंने मानव में स्वाभाविक योग्यता जन्य अथवा पूर्व कर्म-संस्कार जन्य तरतमता को स्वीकारते हुए भी यह माना है कि चाहे विद्या का क्षेत्र हो, चाहे व्यवसाय या